1. दशलाक्षणी महापर्व : द्रव्य एवं भावपक्ष 1 से 24
2. शुद्ध चेतनतत्त्व की उपासना : दशलक्षण धर्म 25 से 29

प्रवचनांश : पूज्य बाबू 'युगल' जी, कोटा
संकलन : ब्र. नीलिमा जैन, कोटा

1. दशलक्षण महापर्व : द्रव्य एवं भावपक्ष

मंगलकारी दशलक्षण महापर्व अति शांत-प्रशांत वैराग्यमय मौसम को लेकर प्रतिवर्ष आ ही जाते हैं। इनके शीतल वातायन में हमें अपने चैतन्य की प्यास जगाना चाहिए। सचमुच ये पर्व आत्मजाग्रति पूर्वक वीतरागभाव की अभिवृद्धि का संदेश लेकर आये हैं, अवश्य ही इनमें हमारे जीवन का आत्मशोधन होना चाहिए, अज्ञान से व्याप्त क्रोध, मान, मोहादि जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ, जो आत्मा के विकार व घातकतत्त्व हैं, उनका समूलरूप से निष्कासन हो, यही इन महापर्वों का सर्व महान प्रयोजन है और तभी पर्वों को मनाने की सार्थकता है। वरना पर्व तो अपने कालक्रम में भाद्रशुक्ल पंचमी से चर्तुदशी तक निश्चित तिथि के साथ आकर चले जाते हैं क्योंकि इनका अनादि अनंत शाश्वत प्रवाह तो कभी रुकने वाला नहीं है, परन्तु एक उभरता प्रश्न यह है कि हमने कितने पर्व मनायें? तब सभी का उत्तर होगा कि अपनी आयु के अनुसार हमने मनाये हैं, लेकिन फिर भी हम अपने को जहाँ का तहाँ पाते हैं, जैसे समुद्र में खूंटे से बँधा जहाज एक ही जगह हिचकोलें खाता रहता है, एक इंच भी आगे नहीं बढ़ पाता, वैसे ही हमारे परिणामों का पहिया एक मिथ्यात्व की धुरी पर ही घूम रहा है या वहाँ से हटकर कुछ आगे बढ़ा है, इससे स्वयं अनुमान हो जाता है कि हमने कितने व कैसे पर्व की साधना की है।

वास्तव में भावों के सर्वोच्च धरातल को दशलक्षण कहते हैं, सर्वप्रथम जिस पुरुष के जीवन में अपनी चैतन्य सत्ता की दृष्टि पूर्वक, सम्यग्दर्शन का सूर्य उदित होता है, उसी क्षण से उसकी परिणति में निर्मल दश धर्म का प्रादुर्भाव हो जाता है और वही उस पुरुष का दशलक्षण है, अनेक व्यक्तियों का मिलकर दशलक्षण नहीं होता क्योंकि परिणाम की जाति भिन्न-भिन्न होती है। अरे! चारों ही गतियों के जीव तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकी हो, जिसने एक बार अपने देवाधिदेव अविनश्वर आत्मतत्त्व का अतीन्द्रिय आनंद रस चख लिया है - ऐसा प्रत्येक ही जीव दशलक्षण मनाने का पूरा अधिकारी है - बाह्य वेश को मत देखना, वह तो शीघ्र ही सिद्ध बनने वाला है।

यह धर्म दशप्रकार के विकारों के अभाव की अपेक्षा आगम में भी दश कहे गये हैं, वास्तव में तो चारित्र की एक वीतरागतारूप-पर्याय ही दश-धर्म कही जाती है। पूजा में अर्घ्य चढ़ाते हैं, उस अर्घ्य में भी 'दशलक्षण-धर्माय'—ऐसा बोलते हैं 'धर्मेभ्यो'—ऐसा बहुवचनरूप नहीं। यह शब्द संस्कृत का है, 'धर्माय' एकवचन है, इसलिए धर्म दश नहीं, बल्कि ये सब चारित्र की वीतराग पर्याय ही है।

—(प्रवचनसार गाथा 10 टीका आचार्य जयसेन)

दश ही दिनों में अथवा तिथि अनुसार हम इन्हें अलग-अलग नाम जैसे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य आदि देकर मना लिया करते हैं और इन्हें सम्पन्न करते हुए संतुष्ट व प्रसन्न हो जाते हैं, लेकिन क्या कभी हमने यह गंभीरता से सोचा कि यह दिवस या तिथियाँ तो कालद्रव्य की पर्याय हैं और काल तो त्रैकालिक शुद्ध अचेतन द्रव्य है, इसका समय-समय पर सदैव एक रूप अमूर्त शुद्ध परिणमन ही होता है, चाहे भूतकाल हो या वर्तमान या अनंत भविष्य। इसमें अशुद्ध परिणमन की कभी कोई संभावना नहीं है। फिर भी जगत का हर प्राणी शुद्ध काल के लिए इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता हुआ सदैव चिंतित रहता है, वे इष्ट कर्म की सिद्धि के लिए शुभ व अच्छा समय ढूँढ़ता है, कहता है काल खराब चल रहा है, अरे! पंचम काल

तो मुक्ति में बाधक है, फिर मुक्ति का पुरुषार्थ भी क्यों करें? इस तरह सारा दोषारोपण काल पर लादकर स्वयं निर्दोष बना रहना चाहता है।

अत: सच्चाई तो यह है कि 'धर्म या दशधर्म' काल का समुदाय मात्र नहीं, बल्कि शुद्ध वीतराग परिणति रत्नत्रय धर्म ही वास्तव में धर्म है, वह धर्म जब व्यक्ति के अन्तर में प्रगट होता है तो उसके जीवन का हर क्षण पर्व बनकर आता है, ये दश दिन तो आने जाने वाले हैं, लेकिन धर्म तो अनंत हो जाता है, जिसका आनंद अनंत काल तक भी बीतने वाला नहीं है।

पर्व का अर्थ तो पवित्रता होता है। आत्मा ही महा मंगलमय पवित्र तत्त्व है और अंतरंग में चैतन्य की सम्यक् श्रद्धा व ज्ञान पूर्वक परिणति की निर्मलता का नाम पर्व है, वही दश धर्म है, जिसमें रागादि विकार का किंचित् रंजितपना नहीं है। इसके साथ बाह्य में भी शुभाचाररूप विशुद्धि सहज हो जाती है, जो दशधर्म का व्यवहार अंग है।

पर्वराज को 'दशलक्षण' संज्ञा से अभिहित करें

इन महापर्व का एक ओर उज्ज्वल पक्ष हमारे से दूर होता जा रहा है, जो कि हमारे विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान समय में समस्त दिगंबर जैन बंधु, मुमुक्षु समाज, वरिष्ठ विद्वानों से लेकर जन सामान्य व्यक्ति ही क्यों न हो, वे सभी इन दशलक्षण पर्व को पर्यूषण के नाम से पुकारने लगे हैं, इसको मात्र पर्यूषण की सीमा में प्रतिबद्ध कर दिया है और सनातन, त्रैकालिक 'दशलक्षण' शब्द दिगंबर जैन समाज से निष्कासित होता जा रहा है, लुप्त सा ही हो गया है, किसी को इस बिन्दू पर विचारने की फुर्सत भी नहीं कि हम 'पर्यूषण' में से उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्म कैसे मनाये जा रहे हैं?

हमारी दिगंबर श्रमण संस्कृति का परिस्पष्ट सत्य तथ्य यह है कि 'पर्यूषण' जैनागम सम्मत संज्ञा व शब्द नहीं है, संपूर्ण दिगंबर आगम व परमागम में पर्यूषण शब्द कहीं उपलब्ध नहीं होता, दिगंबर आचार्यों से लेकर पूज्य गुरुदेवश्री के विशाल साहित्य भण्डार में 'दशलक्षण' नाम तो सर्वत्र मिलता है, लेकिन पर्यूषण कहीं नहीं।

इसके पुष्ट प्रमाण के लिए हमारे दिगंबर महर्षि आचार्यों द्वारा रचित अति प्राचीन शास्त्र श्री प्रवचनसार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि-आदि एवं ज्ञानी विद्वानों ने अपनी गद्य-पद्य रचनाओं में एवं कविवर द्यानतरायजी ने अपनी 'दशलक्षण' पूजा में 'दशलक्षण' नाम का ही उल्लेख किया है, पर्यूषण नहीं। इसी दिगंबर परम्परा का बड़ी सजगतापूर्वक निर्वाह करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ने भी स्थानकवासी संप्रदाय से परिवर्तन के पश्चात् इस शब्द का दृढ़ता के साथ सर्वथा परिहार कर 'दशलक्षण' को ही अपने प्रवचनों व चर्चाओं में सर्वोपरि स्थान पर रखा, क्योंकि सचमुच एक शब्द भी आगम के विरुद्ध बोलना सर्व जैनागम की असादना का महापाप ही है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यह 'पर्यूषण' शब्द अन्य मत द्वारा नया खड़ा किया गया है और 'दशलक्षण' का वाच्य तो स्वयं अनंत धर्मात्मक वस्तु है, जिसमें से दशधर्म जैसी अनंती निर्मल वीतराग पर्यायों का जन्म होता रहता है और होता रहेगा, इसलिए इन पर्वों की शाश्वत त्रैकालिकता व अनादि-अनंतता, अबाधित व स्वत:सिद्ध हो जाती है।

एक गंभीर किन्तु स्वयं से ही अपरिचित तथ्य यह है कि यदि किसी अन्य के अनुकरण पर हम भी इन्हें 'पर्यूषण' कहते हैं, तो समझना हम घोर गृहीत मिथ्यात्व के सेवन का महा-पाप करते हैं क्योंकि उस सग्रन्थ मिथ्यामार्ग में तो वीतराग-चारित्र है ही नहीं और हमारे दर्शन का प्राण तो वीतरागता है, अत: किसी भी स्वार्थपरता भय, लोभादि से दूसरे में सम्मिलित होकर शुद्ध दिगंबरत्व की पवित्रता व गरिमा को नष्ट नहीं करें जैसे किसी का नाम 'सुन्दरभाई' हो, उसे यदि हम कचरा भाई बोलें तो कैसा लगेगा? ऐसे ही दशलक्षण को पर्यूषण नाम देना दिगंबरत्व के लिए एक कलंक है और पर्व के शुद्ध स्वरूप की मिट्टी पलीत करना है। देखो! पर्यूषण का अर्थ क्या होता है? परि+उषण अर्थात् सब ओर से पवित्र - लेकिन तत्त्वज्ञान की छाया में सोचो, तो वह शुभ पवित्र कैसे हो सकता है, जो अपवित्रता व अशुभ में बदल जाता है। यह तो स्वयं ही इतना कमजोर

है, बंध रूप है, मंद कषाय की ही पर्याय है। अतः हमें निर्बंध अवस्था (मुक्ति) में कैसे पहुँचा सकता है ? अरे! सारे शुभ का, चाहे कितना ही उच्च कोटि का हो, उसका निषेध जहाँ से होता है, वहाँ से उत्तम दश धर्म, साम्यभाव, वीतराग भाव, निश्चय रत्नत्रय का प्रारंभ होता है और चारित्र की उग्र दशाओं में सम्यग्दृष्टि, महामुनिराजों को वीतराग भाव की वृद्धि पूर्वक क्रमशः इस शुभाचार व व्यवहार चारित्र का क्षय होकर, अन्त में अरहंत व पूर्ण सुखमय सिद्धदशा की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे दश धर्मों की सौरभ से सिद्ध भगवान का चैतन्य प्रासाद अनंत काल के लिए महक उठता है।

मेरा आपसे पुनः पुनः अनुरोध है कि इस प्रकरण पर आगम के आलोक में विचार करें और हमारे धर्म प्रेमी, तत्त्वरसिक व परिचित जनों को इसके बारे में सहेतु अपना मन्तव्य प्रस्तुत करें तो वर्षों से चली आई विपरीतता में अवश्य सुधार होकर पूर्व परम्परा का नया अध्याय पुनः प्रारंभ हो सकता है - ऐसी मेरी समस्त दिगंबर समाज से करबद्ध विनती है।

इस महापर्व को वास्तव में तो नग्न-दिगम्बर मुनिराज ही निरन्तर मनाया करते हैं। इस समय तो उनकी स्थिति ही निराली होती है। चौबीस घण्टे केवल अपने अनादि-अनन्त, अनन्तशक्ति-सम्पन्न अनन्त-गुणों के वैभव से भरा हुआ जो चैतन्य है, उसमें निरन्तर केलियाँ करना—ये महामुनिराज का जीवन होता है और उसमें कष्ट का नामोनिशान नहीं होता। हम कष्ट की बात करते हैं या मुनिराज को दुःखी देखते हैं। मुनिराज को दुःखी देखने का अर्थ यह हुआ कि हमने आज तक देव-शास्त्र-गुरु की पूजा तो की; लेकिन गुरु का स्वरूप हम नहीं समझ पाये। अरे! एक सामान्य-ज्ञानी भी, जिसे एकबार चैतन्य की अनुभूति हुई है, हम तो उसे भी नहीं समझ पाये। महासुखी हैं वे।

अरे! चैतन्य तो है न, अनादि-अनन्त, यह बात तो सबसे पहले स्थापित होना चाहिए। चैतन्य जैसा देवाधिदेव मेरा निज-आत्मद्रव्य, मेरा निज-परमात्मा सदैव मुक्त सर्व दुःखों से सर्व-क्लेशों से रहित निरापद, ध्रुव, सदाध्रुव, वही का वही जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, जिसके

मौसम नहीं बदलते, जिसमें कभी प्रसन्नता तो कभी दु:ख हो जाए, इस तरह की घटनाएँ घटती नहीं हैं। ऐसी जो चैतन्य-सत्ता, आत्मा की सत्ता, हमारी सत्ता, उसकी स्थापना तो करें। हम अपने भीतर अपनी स्थापना तो करें, हमें अपना ही परिचय नहीं है, तो देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करके क्या करेंगे? क्या मिलेगा हमें उनसे?

जो देव हैं, साक्षात् उनको देखते ही यह बोध होता है कि वे किसी की तरफ झाँकते नहीं, देखते नहीं, निरन्तर अन्तरमग्न हैं, इनसे मैं क्या सीखूँ? बोलते तक तो नहीं है मेरे से। यही तो है सीखने की बात, प्रसन्न रहने का, सुखी रहने का अगर कोई उपाय है, तो वह यह है कि सबसे निरपेक्ष होकर एकमात्र चैतन्यतत्त्व में समा जाए। इस विधि से सदा के लिए, अनन्तकाल के लिए संपूर्ण दु:खों से छूटा जाता है। यहाँ तो लोक में हमें अनन्त-पदार्थों का अवलम्बन लेना पड़ता है, लेकिन अनन्तपदार्थों का अनादि- अनन्तकाल से आलम्बन हमारी एक भी अभिलाषा को पूरी नहीं कर पाया। सोचने की बात कि अनन्त-पदार्थों का लिया आलंबन, वह अनन्त-पदार्थों का है, वर्तमान में धन-धान्य हो, सोना-चाँदी हो, हीरे-जवाहरात हों, कुछ भी हो, बहुत कुछ हो; लेकिन इन पौद्गलिक तत्त्वों का अवलम्बन मेरी अनंती इच्छा को तृप्त नहीं कर पाया।

केवल एक मेरा जो चैतन्य है, उसके पास मैं एकबार गया तो उसने मेरी सारी झोली भर दी। इतना है उसके पास, सब कुछ दे देता है एकबार जाने से, फिर सबसे श्रेष्ठ हुआ या नहीं? क्योंकि सारे लोकालोक के पास में गया, भगवान् सिद्ध-परमात्मा के पास भी गया, लेकिन कुछ बोले नहीं, अरहन्त-परमात्मा के पास गया, तो बोले ''क्यों आया है मेरे पास? मेरे से कुछ मिलना नहीं है और मैं तुझे क्या दे सकता हूँ, 'तू तो स्वयं ही अरहन्त है', 'स्वयं ही सिद्ध है', अगर मैं देता हूँ तो बड़ा पाप है वह। तुझ धनवान की झोली कौन भरे? तू तो स्वयं अनन्त-धनवाला, अनन्त-वैभववाला है''—ऐसे आत्मा की सत्ता को एक क्षण के लिए पहिचान।

एक अपनी सत्ता की प्रतीति, उसे जानना, कैसा है मेरा सुन्दर-स्वरूप?

कितना समृद्धिशाली हूँ मैं ? इस बात को जब तक नहीं जानेगा, तब तक आत्मा की बात सुनकर प्रसन्नता भी कैसे होगी ? इतना हूँ मैं, अरे मैं अरबपति हूँ, अरबों मेरे पास हैं केवल ये एक विकल्प हमें कितनी प्रसन्नता, कितने घंटों तक दे देता है; ये तो निश्चितरूप से ही जानेवाले हैं या तो हम इनको छोड़कर जानेवाले हैं या ये हमको छोड़कर चले जाने वाले हैं; इनमें रहनेवाला कोई नहीं है, और यह चैतन्य तो, मैं जब चाहूँ तब उपलब्ध है ये अनादि-अनन्त है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं। कोई इसके ऊपर नहीं, कोई इसके नीचे नहीं, यह किसी की सापेक्षता नहीं रखता, किसी के आधीन नहीं, किसी के अवलम्बन पर नहीं, इसमें कोई दु:ख-दर्द नहीं, सुख ही सुख भरा हुआ है, आनन्द भरा हुआ है। ऐसे तत्त्व को केवल एक बार, कम से कम इस महापर्व में ही स्वीकार कर लिया जाये, तो बहुत बड़ी खुराक मिल जायेगी।

ऐसे चैतन्य की आराधना मुनिराज निरन्तर करते हैं और हम अभी तक नहीं कर पाये, सुन तो लेते है, कभी सुन लेते हैं, कभी नहीं सुनते हैं, जैसे कोई किसी दिन खा लेता हो रोटी, किसी दिन नहीं खाता हो, महीनों भूखों रहता हो ऐसा व्यक्ति होता है क्या कोई ? नहीं होता, रोजाना भूख लगना और रोजाना भोजन करना जैसे मनुष्य का काम है, उसीतरह निरन्तर-प्रतिदिन इस चैतन्य का आनन्दमय-भोजन करना प्रत्येक दिगम्बर-जैन का कर्तव्य है।

समय ? बहुत समय है हमारे पास, समय की शिकायत स्वीकार करने लायक नहीं है, गलत है वह। व्यवसाय से समय नहीं मिलता, व्यवसाय तुम करते ही कहाँ हो ? व्यवसाय तुमसे होता ही कहाँ है ? व्यवसाय यदि होता होता, तुम करते होते तो तुम उसके कर्त्ता होते और तुम्हारा उस पर पूरा-पूरा अधिकार होता। कर्त्ता तो वह होता है, जिसका कर्म पर अधिकार होता है, यदि तुम्हारा उस पर अधिकार होता, तो आज तुम्हारे पास इतना होता, जो दुनियाँ में किसी के भी पास नहीं है। लेकिन एक तिनका भी जीव इधर-उधर नहीं कर पाता है। ये सारा परिश्रम, सारा पुरुषार्थ सारे व्यवसाय

में जितना श्रम होता है, वह बिल्कुल पानी में जाता है। और आता है तो बिना दिया हुआ आता है। कई घटनाएँ ऐसी हमारे आस-पास होती हैं कि हम कल्पना ही नहीं कर सकते और बहुत आ जाता है, और उस मारवाड़ की रेत की तरह दूसरी जगह जाकर ढेर हो जाता है, देखते-देखते चला जाता है।

ये सब होता है रात और दिन, तब हम ठिकाने आ जाते हैं; आते तो नहीं है, पर कहने लगते हैं कि ऐसा ही होना था, हमने तो बहुत कोशिश की थी, तुम्हारी अगर कोशिश है, तुम इसके अधिकारी हो वास्तव में, तो वह सफल और सार्थक होना चाहिए; लेकिन एक अणुमात्र पर भी तुम्हारा हमारा अधिकार नहीं है। यह बात जानकर केवल एक ही सत्ता मेरी है इस विश्व में, केवल चैतन्य-सत्ता, उस चैतन्य-सत्ता के निकट जाकर मुनि भगवन्त निरन्तर आनन्द-वाटिका में विहार करते हैं, उसमें से निकलना नहीं चाहते।

जैसे कछुवा होता है न, कछुवा, वह आलसी होता है, चलना ही नहीं चाहता, पड़ा रहना चाहता है। उसीतरह उस आनन्द-वाटिका में चैतन्य-वाटिका में अगर मुनिराज जाते हैं, तो आलसी हो जाते हैं। उनका तो जीवन ही यही है, और नहीं है। आठ मूलगुण और महाव्रत ये मुनिराज के कर्त्तव्य नहीं हैं। तो क्या नहीं पालते हैं? पलते हैं, पर कर्त्ता बनकर नहीं पालते; क्योंकि वे भाव आत्मा से विरुद्ध-भाव हैं, पराश्रित-भाव हैं, परावलम्बी-भाव हैं, पर से उनका संबंध है। जिनका संबंध पर से है, वे हमारे अधिकार में हो नहीं सकते। और हम उनके कर्त्ता नहीं हो सकते, वे पलते हैं। लिखा है आचार्य ने तो 'प्रवचनसार' में कि "हे पंच महाव्रत, हे पंच समिति, हे तीन गुप्ति! मैं तुम्हारा पालन तब तक करता हूँ, जब तक मैं अपने चैतन्य में समा न जाऊँ। केवल इतनी सीमा है उनकी।"

पापभाव की तो यहाँ पर चर्चा ही नहीं की जाती है; लेकिन पुण्यभाव की भी कीमत इतनी है पुण्यभाव की विशुद्धि होने पर अगर हम अपने ज्ञान को और सब गुणों को छोड़ दीजिए जो प्रतिसमय ज्ञान चलता है, हमारा यह

श्रुतज्ञान ! मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान विशेष-ज्ञान होता है। विशेष ताकतवाला अरे केवलज्ञान जैसी ताकतवाला ज्ञान होता है। आचार्य ने उस भावश्रुतज्ञान को, जो आत्मा का अनुभव कर लेता है, उसको केवलज्ञान के समीप रखा है। ऐसा जो श्रुतज्ञान है उस श्रुतज्ञान को सारे विकल्पों से तोड़कर, क्योंकि ये विकल्प चैन नहीं लेने देते हैं। एक आसमान से उतर आया, एक पाताल से आया है। विकल्प ही विकल्प, अरे आत्मा की आराधना करेंगे, तो क्या केवल विकल्प से आत्मा का विचार कर लेंगे ? भोजन का केवल विचार करते हैं या भोजन के साथ हम आत्मसात् होते हैं। भोजन का ग्रास मुँह में खाकर तत्काल उसके आनन्द का अनुभव करते हैं या खाली उसके गुण गाया करते हैं ? तो हम भगवान् के गुण गा लें, उससे कुछ होनेवाला नहीं है। दूसरे के गुण गाने से कुछ होनेवाला नहीं है। किसी धनपति के दरवाजे जाकर उसी के गुण गा लो तो क्या ? तुम हम स्वयं वैसे धनपति बन जायेंगे ?

अरे उसने जो पुरुषार्थ किया है, उसी पुरुषार्थ पर यदि हम अग्रसर होते हैं, तो धनपति बन जाते हैं। भगवान् की प्रतिमा और साक्षात् समवसरण के भगवान् का संदेश क्या है ? अरे तू स्वयं परमात्मा है, मरा कहाँ है तू ? 'ण वि उप्पजयि ण वि मरयि' न उत्पन्न होता है और न कभी मरता है आत्मा उसमें पुण्य और पाप के भाव नहीं है सदा रहित है वह। अरे उसमें मोक्ष की पर्याय भी नहीं है, पुण्य-पाप के भाव तो कहाँ लगते हैं, नहीं है उसमें वे सब। लेकिन ये तो सदा से आते रहे हैं न; आते हैं; लेकिन हम ये बात समझें कि पुण्य और पाप कतई मेरा स्वरूप नहीं है।

तो इससे क्या पुण्य-पाप छूट जायेंगे ?

अच्छा है छूट जायेंगे, तो मोक्ष हो जायेगा, डरते क्यों हो ? छूट नहीं जाते, जब तक रहता है संसार में, तब तक ज्ञानी को भी पुण्यभाव आते हैं, लेकिन उन पुण्यभाव में वह कभी अनुरक्त नहीं होता क्योंकि पराधीनभाव हैं न, दया-दान-पूजा इत्यादि, इनमें दूसरा-पदार्थ चाहिए। आत्मा के लिए दूसरे-पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं। आत्मा का अनुभव करने के लिए किसी को लाना पड़े, किसी का अवलम्बन लेना पड़े। अरे, गुरु की भी आवश्यकता

नहीं है। जिन गुरु से आत्मा का स्वरूप सुना, उन गुरु की याद नहीं आती, याद आवे, तो आत्मा का अनुभव ही न हो।

जैसे - एक परीक्षा-भवन में एक परीक्षार्थी परीक्षा देता है, तो प्रोफेसर को याद किया करता है या पेपर करता है ? असली प्रोफेसर भी यह कहता है कि तू मुझे भूल जाना, मुझे याद मत करना, वरना उतना ही भटक जायेगा, उतना ही तेरा समय नष्ट होगा। मैंने जो तुझे सिखाया है और तूने जो आत्मसात् किया है, उसमें तू अनुरक्त हो जाना। उसमें लीन हो जाना, तू फर्स्ट-क्लास-फस्ट आनेवाला है, इतनी योग्यता है तेरे में।

तो क्या अरहंत-भगवान् हमको गुमराह करेंगे, हमको भीख माँगना सिखायेंगे ? पर हम तो भीख माँगते हैं। क्षुल्लक धर्मदासजी ने कहा है कि ''जीव को आज तक दो वस्तु नहीं मिली। एक तो जिनराज स्वामी नहीं मिले और दूसरा अपना शुद्धात्मा....। क्या गजब है बात! जिनराज स्वामी रोजाना दर्शन करने वालों को, लम्बी-लम्बी पूजाएँ करने वालों को नहीं मिले। क्या ये निन्दा नहीं है दर्शन और पूजन की ? ऐसा कहोगे तो फिर हम दर्शन-पूजन करना छोड़ देंगे। चिन्ता मत करो, दर्शन पूजन तो होगा, करोगे, नहीं करोगे, तो क्या करोगे, कहाँ जाएँगे ? कहाँ मिलेगी यह चीज ? मिलेगी तो केवल यहीं मिलेगी; लेकिन उसके मिलने की जो विधि है, उसके मिलने के लिए जो ज्ञान चाहिए, उसमें प्रवृत्ति करने से मिलेगी, यहाँ आने मात्र से नहीं मिलेगी। यहाँ तो हम आते ही रहे हैं। पर वास्तव में तत्त्वज्ञान गायब हो गया है।''

तत्त्व माने शुद्ध-चैतन्य सात तत्त्व तो होते ही हैं, लेकिन सात तत्त्व में सर्वोपरि शुद्ध-जीवतत्त्व है, और वह शुद्ध-जीवतत्त्व मैं हूँ। इस बात को जिसने जाना, उसने पहली बार अपने भीतर चैतन्य की स्थापना की। वरना वह चैतन्य तो पड़ा ही हुआ था, लेकिन इसके लिए तो वह व्यर्थ था, गढ़े हुए धन के समान। ये तो दरिद्री था, होटल में जाकर कप, तस्तरियाँ साफ करता था और धन गढ़ा हुआ था ऐसे ये गढ़ा हुआ धन चैतन्य, अनादिकाल से हमारे पास पड़ा हुआ है; लेकिन हमने गहरे तल में जाकर इसको जानने का प्रयत्न नहीं किया।

हमारे लिए तो बस यही काफी है, थोड़ा-बहुत दान कर लेते हैं, पूजा कर लेते हैं, सदाचार पाल लेते हैं, श्रावक के षट्-कर्म कर लेते हैं, पर तू तो श्रावक भी नहीं है। तत्त्वज्ञान तो यह कहता है श्रावक और मुनि ये वेश नहीं है, आत्मा के वेश नहीं होता। आत्मा नाना-प्रकार का नहीं होता है, वह तो एक ही प्रकार का है, शुद्ध है, परिशुद्ध है, वही का वही है और कभी जिसको कोई विपत्ति आती नहीं। जिसका किला वज्र का बना हुआ है। क्या उस वज्र किले के भीतर कोई प्रविष्ट हो सकता है, उस पर यदि गोले भी बरसें, तो उसे छूनेवाले नहीं है ऐसे परमात्म-तत्त्व की आराधना मुनिराज करते हैं, लेकिन हम अभागे हैं, क्योंकि हमने इन दश-धर्मों का शुद्ध-स्वरूप ही नहीं समझा।

वास्तविक उत्तम-क्षमा क्या होता है? क्षमा करता हूँ, देता हूँ, लेता हूँ, ये लेन-देन की वस्तु तो है ही नहीं। इससे तो कुछ होता ही नहीं, औपचारिकता है, होती रहेगी और होती रहनी चाहिए, लेकिन इसमें ये मानना कि मैंने किसी को क्षमा कर दिया—ये झूठ है। तुम क्षमा करनेवाले होते कौन हो?

उत्तम-क्षमा अर्थात् 'उत्तम' शब्द है, वह सम्यग्दर्शन के लिए होता है और क्षमा अर्थात् शुद्ध-चैतन्य आत्मतत्त्व। क्षमा जैसा, पृथ्वी जैसा, ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उस आत्मतत्त्व में आचरण करना, विचरण करना, उसका नाम उत्तम-क्षमा है और उत्तम-ब्रह्मचर्य? उसका भी वही स्वरूप। 'ब्रह्म' माने ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व, चैतन्य-तत्त्व, उसमें चर्या करना, उसका नाम ब्रह्मचर्य। कहाँ भेद हुआ दस धर्मों में? जब तक चैतन्य की प्राप्ति न हो जाए, तब तक उनका विचार करना, विकारों को कम करने के लिए और चैतन्य की प्राप्ति करने के लिए। यह भी एक व्यवहार-कर्त्तव्य है।

मुनिराज की चर्चा आई, आनी भी चाहिए, क्षमादि दशधर्म के धारक मुनिराज कैसे होते हैं ? दिगम्बर-मुनि का स्वरूप हमने क्या जाना है? हम जानते हैं उनको उपसर्गों में दुःखी और वे उपसर्गों में आनन्द की घूँटे पीते हैं। दिगम्बर-मुनिराज कोई विलक्षण-पुरुष, पाषाण, साक्षात्- पाषाण,

पत्थर, कुछ भी बरसाओ, जो तुम्हारी इच्छा हो सो बरसाओ, गर्मी पड़ती है, सर्दी पड़ती है, बरसात गिरती है। सब में पाषाण जैसे खड़े है। ये वीरता पाई जाएगी किसी में?

अरे! सीमा पर कोई मिलिट्री का आदमी जाता है, ऐसी वीरता होगी किसी में, ऐसा शौर्य - ऐसा पराक्रम होगा? ये कोई शरीर का पराक्रम है क्या? अरे! अन्तर में उस चैतन्य में प्रवेश कर जाते हैं, तो शरीर का पता ही नहीं रहता है, जैसे शरीर ही नहीं है। स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है ''साधु होने पर भी साक्षात् सिद्ध हूँ मैं, सिद्ध से कोई कम नहीं हूँ।'' भले ही साधु कहा जाता हूँ, पर वास्तव में तो मैं सिद्ध हूँ। कैसा सिद्ध हैं? निरन्तर सिद्ध-स्वभाव की आराधना करता हूँ न। तब फिर उनमें और मेरे में अन्तर कहाँ है? ऐसे मुनिराज के निकट तो हम नहीं पहुँच पाये और उनसे काफी नीचे रह गये। क्यों?

अभी तक चैतन्य का पता नहीं, तो उसकी स्थापना, परिचय तो एकबार करें। यह तो कहना सीखें कि मैं तो शुद्ध चैतन्य अजर-अमर-अविनाशी तत्त्व हूँ। ध्रुव-तत्त्व हूँ, मेरा कभी कुछ होना नहीं है। ये आधियाँ-व्याधियाँ, ये कभी आत्मा को लगती ही नहीं है। वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती हैं, छू ही नहीं पाती हैं, और छूती होती, तो इनको साथ लेकर जाता न। किसी को टी.बी. हो गया हो, तो फिर आत्मा टी.बी. को अगले-भव में साथ लेकर जायेगा कि नहीं? लेकिन आज तक किसी के साथ टी.बी. गई है क्या? इससे यह तो एकदम स्पष्ट है कि आत्मा को तो यह रोग होता ही नहीं है। हुआ ही नहीं है क्योंकि वह तो अशरीरी है ऐसा अनादि-अनन्त अविनाशी ध्रुव ज्ञायक-तत्त्व है, वह मैं हूँ।

ऐसी स्थापना एकबार इस दशलक्षण महापर्व के भीतर हो और उसके लिए हमने चर्चा की कि वहाँ तक पहुँचने के लिए जो पहला पहलू है विशुद्धि, वह हमारे जीवन से गायब हो गई। विशुद्धि तो मौसम है, अच्छा मौसम है अर्थात् उसमें गर्मी नहीं, धूप नहीं, ज्यादा सर्दी नहीं, बरसात नहीं। अच्छा मौसम है अर्थात् वह ऐसी भूमिका है कि जिसके होने पर हम अपने

ज्ञान के द्वारा आत्मा का चिंतन कर सकते हैं ? जैसे रसोईघर के बिना रसोई नहीं बनती, तो क्या रसोईघर में रसोई बनती है। रसोई के उपादान-तत्त्व अलग होते हैं, उसकी चीजें अलग होती है। रसोईघर तो केवल वहाँ होता है। इसीतरह विशुद्ध परिणाम होने चाहिए, लेकिन उन विशुद्ध-परिणामों से आत्मा नहीं देखा जाता, क्योंकि विशुद्ध-परिणाम स्वयं राग है और राग आत्मा का विरोधी-तत्त्व होता है, तिरस्कार करनेवाला है, राग तो दूसरे से संबंध जोड़ता है। राग क्या करता है ? राग तो आकर्षित करता है न। मुझे खाना खाना है, ये भोजन की ओर आकर्षित हुआ न। ये भोजन का राग है न। मुझे ऑफिस जाना है—ये पैसे का राग हुआ या नहीं, पैसा कौन लगाता है हमारा कि हम उसकी ओर आकर्षित हों। हमको क्या अधिकार है, उसकी ओर आकर्षित होने का। राग धन की ओर आकर्षित होता है और उसी समय जो शुद्धात्मा है, वह सदा पर्याय-रहित ही है; जिसमें पर्याय-मात्र का निषेध है, ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसके लिए कुछ नहीं चाहिए, न भोजन चाहिए, न उसे ऑफिस चाहिए, कुछ नहीं चाहिए—ऐसा आत्मतत्त्व है। जो 'राग' नाम की वृत्ति है—क्रोध, मान, माया, लोभ की वृत्ति है ये सारी परावलम्बी, पराधीन बनानेवाली वृत्तियाँ हैं। आत्मा स्वाधीन- तत्त्व है, इसलिए ये वृत्तियाँ कभी भी आत्मा नहीं हो सकतीं—ये वृत्तियाँ मुझसे सदा काल न्यारी हैं।

अरे वर्तमान में हमारे पास जो श्रुतज्ञान-तत्त्व है, वह ज्ञान उस आत्मा को पहिचान कर, आत्मा निकट जाता है, अपने आपको सारे जगत् के विकल्पों से खाली करके ये तो शर्त है, पूरी शर्त है कि आत्मा का जो श्रुतज्ञान है, वह पूरे विकल्पों से खाली हो जाना चाहिए, और उसमें केवल एकमात्र चैतन्य ही प्रवर्तित हो मैं शुद्ध-चैतन्य तत्त्व हूँ मैं अविनाशी हूँ, मैं ध्रुव—ऐसा जब विचार करेगा, तो विचार मात्र में भी प्रसन्नता होगी-जैसे किसी को वरदान मिल जाए और वह कहे कि ''इस जगत् में मुझे कोई मारनेवाला नहीं है, मुझे तो ऋषि का वरदान है।'' इसीप्रकार अनुभूति के पूर्व मात्र विचार भी करता है, तो प्रसन्नता होती ही होती है।

यदि इन 10 दिनों में भी एकाग्रता से इस बात को ग्रहण कर लिया तो हम निहाल हो जाएँगे। ये जो विशुद्धि है। पूजा के लिए जैसे स्नान करना, शुद्ध कपड़े पहनना जरूरी है, पर शुद्ध कपड़े पहनना, स्नान करना पूजा नहीं है, लेकिन वह होती है, उसके बिना पूजा नहीं होती, पर उससे नहीं होती। उसी तरह ये जो विशुद्धि, पुण्य-परिणाम शुभभाव, शुभोपयोग है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा..., मिथ्यात्व का त्याग, अन्याय का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, निर्दयता का त्याग, करुणाभाव का हृदय में निरन्तर बहना इत्यादि जो भी चर्चाएँ हैं, ये सारी की सारी विशुद्धि अर्थात् शुभोपयोग है। पर भ्रम से अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि मैंने इतना कर लिया है, तो ऐसा करते-करते ही मेरा मोक्ष हो जाएगा।

अरे, लेकिन जो मोक्ष के विरुद्ध है और मोक्षदशा के पहले ही जिनका अभाव हो जाता है, तो वह तुझे मोक्ष कैसे ले जाएँगे। वे तो उस मोक्षमार्ग में पदार्पण ही नहीं करते। वे तो जाते ही नहीं हैं वहाँ, सिद्ध भगवान् के पास पाप-पुण्य हैं क्या? सिद्धदशा में वे छूट गये या नहीं छूटे? छूट इसलिए गये कि वे विकार थे, मोक्ष से उनका मिलान नहीं था, इसलिए वे छूट गये तो जो छूट जाता हो और हमारे साथ सदा रहता नहीं, तो वह धर्म कैसे हो सकता है, वह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है? इसलिए ऐसी विशुद्धि को भी 'हेय' जाना जाता है। कैसे हो सकता है मेरा? इसका नाम 'हेयबुद्धि' है, एक दिन छूटना है, लेकिन वर्तमान में नहीं छोड़ देना है।

जैसे मुनिराज होते हैं, उनके वस्त्र नहीं होते, हम भी मुनि बनना चाहते हैं, मुनि बनने की भावना भी होती है, लेकिन मुनि होने की योग्यता वर्तमान में नहीं है। योग्यता के अनुसार पद-ग्रहण करना चाहिए, वरना पद बदनाम होता है। मुनि बनना चाहें, तो क्या वर्तमान में कपड़े खोल दें। कपड़ा क्या ग्रहण करने लायक है, कपड़ा क्या आत्मा की वस्तु है। मुनि बनना चाहते हैं, भावना है, लेकिन इतनी शक्ति अभी नहीं है। इसलिए कपड़े को हेय जानकर रखते हैं, कपड़े को उतारने लायक मानकर रखेंगे, कपड़ा पहनने लायक मानकर नहीं रखेंगे, लेकिन कपड़ा उतारेंगे नहीं। ये हेय-उपादेय की

कक्षा ज्ञान में समझ में नहीं आती है क्या?

अरे देव, गुरु, धर्म चिंतामणि से अधिक कीमती है। हमारे जैसा देवता तीन लोक और तीन काल में नहीं है, एक ही देवता कितनी सुन्दर है बात, हजारों के पास, करोड़ों के पास नहीं जाना पड़े। जाओ तो व्यवहार देव हमारे भगवान् अरहंत-सिद्ध और निश्चय-देवता हमारा शुद्ध-चैतन्य, बस दो ही देवता हैं। वास्तविक-देव शुद्ध-चैतन्य है, भगवान् से भी पराधीनता मिलती है—ऐसे देव का स्वरूप पहिचानें। और गुरु का स्वरूप? गुरु के 28 मूलगुण ही मालूम नहीं, तो गुरु के स्वरूप की पहिचान कैसे होगी?

इसीतरह जिनवाणी तो उसको मिली, जिसने जिनवाणी के द्वारा शुद्ध-चैतन्य को समझा। शुद्ध-चैतन्य पर अपनी स्थापना करके एकबार उसकी अनुभूति की, तो वह सफल हुआ और उसने ही जिनवाणी खोली, उसके द्वारा जिनवाणी का विमोचन हुआ, अन्य के लिए तो जिनवाणी बन्द है। जिनवाणी तो बहुत विस्तृत है, उसमें निश्चय-व्यवहार की बहुत बातें आती हैं, उसमें तो पुण्य को भी मोक्ष का कारण कहा जाता है, लेकिन बात कुछ और ही है। हम अपने मकान को दूसरे का मकान शिष्टाचार में कहते हैं, उसीतरह पुण्य को भी परम्परा से मोक्ष का कारण कहा जाता है, लेकिन मोक्ष का रंचमात्र कारण नहीं है। पुण्य भी कारण हो और पुण्य के अभाव में होने वाला वीतरागभाव भी कारण हो —ऐसे दो कारण होते हैं क्या? यदि दो हों, तो क्या दो का अवलंबन लेंगे हम? नहीं बनेगी यह बात। इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तथा ज्ञान के द्वारा तत्त्व निर्णय का पुरुषार्थ साथ में चले।

चित्त में उछलती हुई भक्ति से अगर जीव भाव-विभोर नहीं होता है, तो उसने वास्तव में भगवान की भक्ति नहीं की। इस जीव का चित्त पाप से इतना मलिन है कि निरन्तर पाप ही पाप के विकल्प होते हैं। पाप के विकल्प में पुण्य के परिणामों का तो सदा अभाव ही रहता है। मन्दिर का तो एक कार्यक्रम बना लिया हमने, कि रोजाना मन्दिर जाना है परन्तु कार्यक्रम से धर्म नहीं होता, धर्म चौबीसों घण्टे होता है। निद्रा में भी होता

है, क्योंकि यह धारा तो स्थायी चलती रहती है, कभी बन्द नहीं होती है। क्षायिक-सम्यक्त्व जब से प्रगट हुआ, तब से वह धारा अनन्त सिद्ध-दशाओं तक चलनेवाली है। वास्तव में तो यह है मोक्षमार्ग। एक ही मार्ग है, दूसरा नहीं।

विशुद्धि में यह भी पहिचाने कि हमारे खाने योग्य कौन वस्तु है और कौन-सी हमारे लायक नहीं है। हम जैनकुल में हुए हैं न, हमें जिनवाणी मिली है न, तो क्या यह बात नहीं जानना चाहिए हमें। ''जितनी भी चीजें पैदा हुई हैं, वे सब खाने लायक हैं''—ऐसा कहते हैं लोग। तब फिर तुम इतना भेद क्यों करते हो? सीढ़ी पर रखी चप्पल क्यों नहीं खा जाते पराठा समझकर? इसीतरह जिसमें बहुत जीवों का घात होता हो, बहुत-जीव मरते हों, बहुत-जीवों के जो स्थान हों, ऐसी जो चीजें हैं; जमीकन्द, आलू, शकरकन्द, गाजर, मूली, बाजार की जलेबी इत्यादि हैं, द्विदल हैं, बाजार की तो सभी चीजें अभक्ष्य ही होती हैं। सुना! किसी ने छोड़ा हो, तो छोड़ा हो; नहीं छोड़ा हो, तो अभी छोड़कर जाना; क्योंकि इनमें अनन्तानन्त-जीव होते हैं। आलू, शकरकन्द, गाजर, मूली इसके एक टुकड़े के सुई जैसे स्थान में असंख्यात-लोकप्रमाण निगोद-शरीर होते हैं। शरीर की बात चल रही है, अभी तो निगोद, जिसको एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण करनेवाला कहा जाता है लब्ध-अपर्याप्तक होता है। तो ऐसे जीव के असंख्यात-लोकप्रमाण शरीर इतनी-सी जगह में होते और एक और एक शरीर में अनन्तानन्त-जीव होते हैं। कहाँ रहते होंगे? वहाँ तो समाते ही नहीं होंगे? जीव में विस्तार-संकोच की शक्ति है न! शरीर के प्रमाण ही उसका संकोच होता है, इसलिए इतने जीव जिसमें पाये जायें और उन जीवों को जानते हुए भी हम उनको अपने हाथ से उठाकर मुँह में खा जाएँ, कितनी हत्या होती है। क्या हो जाता है हमारा यह मुँह, क्या बन जाता होगा? इतनी भी दया नहीं है चित्त में तो अपने जीवराज की चर्चा-वार्ता कैसे सुनेगा?

इसीप्रकार रात्रिभोजन करते हैं। रात्रि में त्रसजीवों का घात, सब्जी में गिर रहे हैं, और हम खाते जा रहे हैं। रात को नियम से असंख्य संमूर्च्छन

पंचेन्द्रिय तक जीव पैदा होते हैं और मरते हैं और हम खाते जाते हैं, ट्यूबलाइटों के प्रकाश में। और द्विदल माने जिसकी दो दाल होती हो, मात्र दालें नहीं, वरन् किसी भी चीज की, जिसकी दो दाल होती हो, उसको दही, छाछ और दूध में मिलाकर खाने से इस मुँह के भीतर असंख्य-त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। त्रसजीव-माँसवाले माँसल-जीव। दही-बड़ा और रात्रि भोजन जैनियों, दिगम्बर जैनियों की रसोईयों में, जिन दिगम्बर-जैनों के लिए कहा जाता है कि पानी छानकर पीता है, तो जैन होगा। पूछा जाता है उससे कि ''तुम जैन लगते हो? जैनियों का लक्षण/चिह्न है ये।'' आज उन्हीं जैनियों के यहाँ हजारों लोग रात को खा रहे हैं और हम प्रसन्न हो रहे हैं। इसतरह के अनर्थ जीवन में जहाँ पर होते हों, रात और दिन मलिन-परिणाम, मलिन- चीजें ही देखना, मलिन-बातों को ही याद करना। पूर्व के भोगों को याद करना। आजकल चली है न प्रथा। कौन सी प्रथा? शादी की वर्षगाँठ। तुम्हें शर्म आना चाहिए यहाँ बैठने में इसतरह के ये नये-नये जो बेहूदा रिवाज हैं, उनमें हम शामिल होते हैं। अरे मोक्षार्थी तो वह होता है, जिसका एक क्षण व्यर्थ नहीं जाता। व्यर्थ की बातों में समय नहीं गमाता है। बात करें, तो बहुत संक्षेप में करें, विस्तार से बात न करें, मतलब की बात करें, दुनिया की चीजों को अधिक देखने का मन न करें, दुनिया की चीजों को देखो ही मत।

दूसरों का समय नष्ट न करें, ज्यादा घूमना, फिरना बंद करे, अधिक लोगों को सुनना बंद करे, कुसंग को छोड़े मिथ्यादृष्टियों का साथ छोड़े। मिथ्यादृष्टियों से बात करने का मौका आये तो कम से कम करें। हमें तो दुकान पर बात करना ही पड़ता है अरे अधिक-बात मत करो उसको संक्षेप करके खत्म करने की चेष्टा करो और उसमें रमो मत। ये जो देव-गुरु-धर्म का सत्संग है और इसको जाननेवाले और इसका अनुभव करनेवाले जो ज्ञानी हैं, आचार्य हैं, उनका जो संग है, वह हमारे लिए निरन्तर संगति करने लायक है। शेष-जगत् में कोई संग हमारा नहीं है।

तब विशुद्धि होती है, परिणामों की और हम समय नष्ट करते हैं कितना

समय है हमारे पास, अरे टी.वी. देखते हैं, नाटक देखते हैं, मेलों में जाते हैं—ये मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। वहाँ से मलिन-परिणाम लेकर जाते हैं और दूने मलिन-परिणाम लेकर आते हैं। अरे! जो मुमुक्षु टी.वी. के दर्शन करता है, स्वास्थ्य, समय, सदाचार, संपत्ति जिसके निकट आते ही नष्ट हो जाते हैं, बेहूदा चित्र, बेहूदा ढंग से उसको देखने का परिणाम ही मलिन और फिर वह परिणाम लेकर उठा तो और भी मलिन-वही धुन चलती है और आज तो मुमुक्षु के घर-घर में है। और फिर हम शिकायत करते हैं कि हमको आत्मानुभूति नहीं होती। उसे आत्मानुभूति। अरे, विशुद्धि पैदा हुई क्या? सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा ही पैदा नहीं हुई। मोटे अभक्ष्य का जिसमें अनन्तजीवों की हिंसा होती हैं, और रात्रिभोजन का त्याग ही नहीं क्या विशुद्धि होगी?

ये तो मोटी-विशुद्धि है मनुष्य के लायक, तिर्यंच तो नहीं कर पाता है ये काम, तो भी सम्यग्दर्शन होता है; क्योंकि उसे पता ही नहीं है, वो लाचार है, उसको पराधीनता है, लेकिन फिर भी कर लेता है, शेर ने किया न। इसलिए दशलक्षण में जीवन पर्यन्त के लिए इन सारी वस्तुओं के त्याग की तो प्रतिज्ञा लेकर जायें। हम परिणामों को जानबूझकर मलिन नहीं करेंगे, अनादिकाल से मलिन हैं, अब यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य मिला है, यहाँ आकर देव के दर्शन करके भी यदि परिणाम में विशुद्धि नहीं आयी, तो तुझ जैसा अभागा-जीव दूसरा नहीं है।

विवेक एक मशाल है, जो हमें मार्गदर्शन देती है, और तत्त्वज्ञान के बल पर ही विवेक जागता है, इससे नैतिकता आती है और यह तत्त्वज्ञान की नैतिकता, विशुद्धि, व्यवहार-धर्म में शामिल है। लोक की नैतिकता भिन्नप्रकार की है, सारी विशुद्धता की सीढ़ियाँ हेयदृष्टि से बनानी होंगी, इस शुभोपयोग की भूमिका में, मैं अपने उपयोग को शुद्धात्मा की ओर ले जाऊँ, तो निश्चित मुक्ति होगी। अन्य की महिमा रहे ही नहीं, सिद्ध-पर्याय की भी महिमा नहीं रहती, बस सुनकर आत्मतत्त्व की महिमा आवे तो अवश्य ही भव का नाश होकर मुक्ति हो। इस तरह इन पर्वों का भाव पक्ष तो श्रद्धा, ज्ञान,

चारित्र की ऊर्ध्वता की ओर ले जाने वाला है ही। साथ ही द्रव्य पक्ष भी उतना ही अनुशासित, संयमित व मर्यादित एवं कोमल भावभूमि पर आधारित है।

मुमुक्षु का लक्षण - मुमुक्षु का एक-एक क्षण रत्नों से भी अधिक कीमती होता है, वह विश्व का सर्वोच्च-पुरुष होता है, एक, क्षण भी उसका व्यर्थ नहीं जाता। दुनिया के सारे काम ऊपर ही ऊपर चलते रहते हैं और अन्तर में शुद्धात्मा की धारा बहती रहती है, वह एक दिन अवश्य आत्मानुभूति प्राप्त कर आनन्द की घूँटें पीने लगता है।

मुमुक्षु की पहचान, उसकी दया की पहचान एक छोटी-सी क्रिया में, एक चींटी को बचाने में हो जाती है, पवित्र-घर व पवित्र-परिणाम, जहाँ चैतन्य की चर्चा से घर महकता हो। यहाँ भारतवर्ष में एक बड़े दार्शनिक विद्वान् थे मण्डन मिश्र। जब कोई व्यक्ति जाकर गाँव में मण्डन मिश्र का मकान पूछता था, तब पनघट पर जो पनिहारियाँ होती थी, वह संस्कृत में यह जवाब देती थीं—

''स्वत : प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरन्ति तत्र।
द्वारस्य कीरान्तर तनिबद्धा जानहि तं मण्डनमिश्र-धाम।।''

जिसके दरवाजे पर टँगे, तोता और मैना यह चर्चा कर रहे हों कि प्रमाणज्ञान स्वतः होता है या परतः होता है, जहाँ यह चर्चा हो रही हो, समझना वही मण्डन मिश्र का घर है। हमारे यहाँ भी जिस घर में शुद्धात्म तत्त्व की चर्चा दिन-रात चल रही हो, तो समझना मुमुक्षु का घर है।

आचार्य ने लिखा है ''परदव्वाओ दुग्गई'' हम तो ज्ञेय बनाते हैं, ये जगत् मेरा ज्ञेय है, वे लिखते हैं 'परदव्वाओ दुग्गई' परद्रव्य को देखने की जो तुम्हारी इच्छा है, यह दुर्गति है जहाँ पर को जाना, वहाँ सब ज्ञेय को जाना, पर और ज्ञेय को जानने का अर्थ ही यह है कि वहाँ से तुम सदा के लिए अपना मुँह फेर लो उसकी ओर झाँको मत। झाँकना नहीं है, इसको कहते हैं ज्ञेय बनना। जिसकी याद ही न आवे, जिसका विकल्प भी न हो, उसको ज्ञेय कहते हैं। पर की याद क्यों आवे ? हमें दूसरों ही दूसरों के बंगले

की याद क्यों आती हैं? अरे! अपने बंगले की याद क्यों नहीं आती। 'स्वदव्वाओ सुग्गई' जो स्वद्रव्य है शुद्ध-चेतन तत्त्व उससे सद्गति होती है याने मुक्ति होती है स्वद्रव्य का जो आश्रय है, अवलम्बन है, उसकी जो अनुभूति है, वह वास्तव में मुक्ति का कारण है।

परद्रव्य दिखेंगे तो सही ये सब सभा बैठी है, तो नहीं दिखती है क्या? अरे! परद्रव्य की बात तो क्या अपनी पर्याय को देखने का चक्षु भी सर्वथा बंद कर दें। पर्याय को देखना पाप है। मोक्ष की पर्याय को याद करने से राग होता है, उससे मोक्ष नहीं होता। अपनी पर्याय तक को याद नहीं करना। ऐसा कहने से पर्याय की याद नहीं आयेगी क्या? ये दुनियाँ, ये छह द्रव्य हैं, ये नहीं दिखाई देंगे क्या? दिखाई तो देंगे लेकिन शुद्ध-चैतन्य पर हमारी निष्ठा हो गई, तो उसके सामने यदि दूसरे पदार्थ आते भी हैं, अपनी पर्याय का विकल्प भी आ जाता है तो सारा का सारा उपेक्षित-कक्षा में चला जाता है, उपेक्षित-भाव अर्थात् कुछ नहीं है। जिसतरह से हम बाजार में जाते हैं अपने काम से, और वहाँ पर बहुत चीजें होती हैं तो सबको एक-एक दुकान पर गिन-गिनकर देखते हैं या उपेक्षित-भाव से निकल जाते हैं। 'होगा कोई, होगी किसी की दुकान, होगा किसी का सामान', हम अपने काम पर चले जाते हैं। इसीतरह मोक्षार्थी इन सबको पार करता हुआ अपने श्रुतज्ञान को चैतन्य पर ले जाता है, ये उसकी प्रक्रिया है, ये उसका जीवन है।

अरे! वह शुद्ध-चैतन्य, जो विकल्पमात्र से रहित है, स्वयं उसके भी विकल्प, मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मैं चैतन्य-तत्त्व हूँ, मैं आनन्द-तत्त्व हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ये विकल्प ही विकल्प, पर साहब अनुभूति तो होती ही नहीं है, बहुत कोशिश करते हैं।

झूठ मत बोलो! आजतक जरा-सी भी कोशिश नहीं की, पुरुषार्थ नहीं किया, शुद्ध-चैतन्य की अनुभूति का - जो उसकी विधि है, यदि एकबार उसमें प्रवृत्ति कर लें और यदि हम फेल हो जाये, तो जगत् में से मोक्षमार्ग उठ जायेगा, वह स्वानुभूति फेल नहीं होती है कभी भी, क्योंकि उसके बीच में कोई आता नहीं है। जिससमय जीव का श्रुतज्ञान शुद्ध-चैतन्य की ओर

बढ़ता है, उससमय आठ कर्म एक तरफ हो जाते हैं, भावकर्म राग-द्वेष-मोह एकतरफ हो जाते हैं, अरे! सारी दुनिया एक ओर हो जाती है, बल्कि ये परिस्थितियाँ साधक बन जाती हैं।

अरे! जगत् के हीरे, माणिक्य, मोती से अधिक उपलब्धि हमारे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और शुद्ध-चैतन्य की है। इन महापर्वों में वो एक बार मिल गया, तो जीवन धन्य हो जाता है। उसके जीवन से पर्व और जीवन का भेद समाप्त होकर हर क्षण दोनों अभेद हो जाते हैं। यही पर्वाधिराज का मांगलिक संदेश है.....।

दशलक्षण प्रारंभ होने के पूर्व एक वैराग्यमय करुण घटना का उल्लेख भी जैन शास्त्रों में आता है, छठे काल की है -

दि. जैन परम्परा के अनुसार काल (समय) उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के रूप में क्रमशः परिवर्तन करता है। काल का यह परिवर्तन मात्र भरत व ऐरावत क्षेत्रों के आर्य खण्डों में ही होता है, अन्य क्षेत्रों में नहीं।

उत्सर्पिणी में मनुष्य व तिर्यंचों की आयु शरीर, बल, ऊँचाई व वैभव बढ़ते हैं और अवसर्पिणी में इनका ह्रास होता जाता है।

20 कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है।

10 कोड़ाकोड़ी सागर का उत्सर्पिणी एवं 10 कोड़ाकोड़ी सागर का अवसर्पिणी।

दोनों में छह-छह काल का विभाजन होता है।

अवसर्पिणी काल का क्रम -

1. सुषमा-सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषमा-दुषमा, 4. दुषमा-सुषमा, 5. दुषमा, 6. दुषमा-दुषमा।

इसमें पहला काल 4 कोड़ाकोड़ी सागर, दूसरा 3 कोड़ाकोड़ी सागर, तीसरा 2 कोड़ाकोड़ी सागर, चौथा - 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42 हजार (बयालीस हजार) वर्ष कम।

चौथे में तीर्थंकर व शलाका आदि महापुरुषों का जन्म होता है। पंचम व छठा काल 21-21 हजार वर्ष का होता है। इसमें तीन काल तक भोगभूमि व तीन काल तक कर्मभूमि की रचना होती है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी आता है, जो अभी चल रहा है।

उत्सर्पिणी काल का क्रम इस प्रकार बताया गया है -

1. दुषमा-दुषमा, 2. दुषमा, 3. दुषमा-सुषमा, 4. सुषमा-दुषमा, 5. सुषमा, 6. सुषमा-सुषमा।

महाप्रलयंकारी अत्यन्त रोमांचक दुखद घटना का वर्णन इस प्रकार आता है कि अवसर्पिणी काल के अंतिम छठे दुषमा-दुषमा काल के 21 हजार वर्ष बीत जाने पर, जब 49 दिन शेष रह जाते हैं तो भरत व ऐरावत के आर्यखण्डों में प्रकृति का विचित्र रौद्रमयी परिवर्तन होता है।

इस क्षेत्र के समस्त जन्तुओं एवं प्राणियों पर भयावह, विनष्टकारी प्रलय होता है - सात-सात दिन तक घनघोर वर्षायें होती हैं। तब मनुष्य व तिर्यंच वस्त्र व स्थान की अभिलाषा करते हुए बहुत विलाप करते हैं, उस समय स्वर्ग से देव आकर मनुष्य व तिर्यचों के 72-72 जोड़ों को गंगा-सिन्धु की नदियों की वेदी और विजयार्ध की श्रेणियों में ले जाकर रख देते हैं और विद्याधर भी दयालु होकर संख्यात जीव राशि उन प्रदेशों में ले जाकर छोड़ देते हैं। वे वहाँ सुरक्षित रहते हैं, उस प्रलय में कैसे-कैसे विध्वंसक पदार्थ बरसते हैं 49 दिन तक -

1. प्रथम सात दिन संवर्तक वायु चलती है, जो वृक्ष व पर्वतों का चूरा कर देन वाली होती है।

2. सात दिन गंभीर गर्जन के साथ मेघ तुहिन व क्षार जल बरसाते हैं। गर्म-गर्म खारा पानी बरसता है।

3. सात दिन विष जल बरसता है।

4. सात दिन मेघों के समूह से धूम (धुँआ) निकल चारो ओर छा जाता है।

5. सात दिन धूलि का समूह ऊपर से पृथ्वी पर गिरता है।

6. सात दिन वज्र का कठोर समूह पर्वत के हजारों फिट बड़े-बड़े टुकड़े गिरते हैं।

7. सात दिन जलती हुई दुष्प्रेक्ष ज्वाला अर्थात् भयानक अग्नि जो चारों ओर के प्रदेश को जलाकर खाक कर देती है।

ऐसे 7-7 दिन अर्थात् 49 (उनचास) दिन तक कुवृष्टि से इस आर्यखण्ड की चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार काल के अंत में प्रवर्तित प्रलय के उपरान्त उत्सर्पिणी काल के प्रारंभ में श्रावण कृष्ण एकम् से भाद्र शुक्ल चतुर्थी तक 7-7 दिन अर्थात् 49 दिन पुनः सुवृष्टि (शुभ वर्षा) का प्रारंभ होता है, इसमें सुखोत्पादक पदार्थों की वर्षा होती है।

1. सात दिन पुष्कर मेघ सुखोत्पादक जल बरसाते हैं, जिससे जली हुई, पृथ्वी शीतल हो जाती है।

2. सात दिन क्षीर मेघ दूध की वर्षा करते हैं, इससे यह पृथ्वी उत्तम कांति युक्त हो जाती है।

3. सात दिन अमृत मेघ अमृत वर्षा करते हैं।

4. सात दिन इस अमृतमयी भूमि पर लता गुल्म, पुष्प, फल आदि की वर्षा होती है।

5. उस समय रस मेघ सात दिन तक दिव्य रस वर्षा करते हैं, इससे समस्त पृथ्वी रसमय हो जाती है।

6. विविध-रस पूर्ण औषधि सात दिन बरसती है, उससे यह पृथ्वी सुस्वादु हो जाती है।

7. अंत में शीतल गंध सात दिन तक बरसती है।

इस प्रकार हुई सुवृष्टि की शीतल सुगंध पाकर विजयार्ध की श्रेणियों

में छिपे वे मनुष्य व तिर्यंच के 72-72 युगल व संख्यात जीव राशि गुफाओं से बाहर निकल पुनः इस प्रदेश में आकर निवास करते हैं और शांति की श्वास लेते हैं।

उस समय मनुष्य भी तिर्यंच के समान फल फूल खाते हैं और यह आर्यखण्ड की भूमि दर्पण के समान सुन्दर हो जाती है। गुफाओं में से निकले वे मनुष्य व तिर्यंच और ऐसी संख्यात जीव राशि संसार की क्षणभंगुरता का विचार कर भव भोगों की असारता को प्रत्यक्ष देखते हुए वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की शरण लेते हैं और धर्म आराधना में तत्पर हो जाते हैं। उन मनुष्यों के स्वभाव कोमल व नम्र होते हैं, वे जिनधर्म के श्रद्धालु पापभीरू होते हैं। इस प्रकार तभी से पुनः नये युग (उत्सर्पिणी) का प्रारंभ होता है। हम भी इन तिथियों में इन महापर्वों को विशेष रूप से मनाते हैं।

अरे! यह भयानक कंपा देने वाली घटना हमारे लिए भी बड़ी वैराग्यदायिनी है। इन विनाशकारी भावों से हम अपनी रक्षा कैसे करें? अरे! इस महादुःखमय संसार में एक मात्र मेरा अविनश्वर ध्रुव चैतन्य ही शरणभूत है, रक्षक है। चिरकाल एक ही मंगलकारी है। यही इस कथा की मंगल प्रेरणा है।

सचमुच यह घटना तो दशधर्म व पर्वादि का मात्र माध्यम है वास्तव में धर्म अर्थात् वस्तु के स्वभाव या आत्मा के क्षमादि गुणों का इस काल विशेष या प्रकृति के सुन्दर-असुन्दर परिणमन से किंचित् कोई संबंध नहीं है। धर्म तो हर क्षण-हर दिन, वर्ष भर, जीवन के अंत तक आराधने की वस्तु है। जो शांति व आनंद प्रदायी होता है।

दशलाक्षिणी पर्व जयवंत वर्ते। दिगंबर शासन जयवंत वर्ते।

भाद्रपद शुक्ल पंचमी सं. 2077 **आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन**
दिनांक - 10 सितम्बर 2021 **कोटा**

❀❀❀

2. शुद्ध-चेतनतत्त्व की उपासना : दशलक्षणधर्म

- **बाबू 'युगल' जैन** (एम.ए., साहित्यरत्न) कोटा

'दशलक्षणधर्म' अथवा 'धर्म के दशलक्षण' अनेक भारतीय दर्शनों का बहुचर्चित-विषय है। फिर भी चिन्तन विविधताओं एवं हीन-स्वार्थ की पराकाष्ठाओं से सम्भवत: धर्म के स्वरूप की जैसी मिट्टी पलीत हुई है वैसी और वस्तु की नहीं। सन्तों की स्वरूपलीनता से लेकर किसी धूम्रपान का दान करना भी धर्म घोषित किया गया है। इसका फल यह हुआ कि आत्मा अपने ही मंगलमय-धर्म से वंचित रह गया।

धर्म के विषय में जैनदर्शन का चितंन एकदम मौलिक एवं हृदयग्राही है। उसके स्वरूप के अनुसन्धान में इस दर्शन ने कहा कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है "**वत्थुसहावो धम्मो**"। यह परिभाषा पर्याप्त-संगत प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें धर्म का आधार धर्मी अर्थात् एक वस्तु को ही स्वीकार किया गया है—जैसे अग्नि का धर्म उष्णता एवं दीपक का धर्म प्रकाश। वस्तु के धर्म का पता करना हो, तो हमें स्वयं वस्तु के पास जाना होगा।

अत: धर्म की यह परिभाषा निर्विवाद है, क्योंकि यह गढ़कर तैयार नहीं की गई। जहाँ परिभाषायें गढ़ी जाती हैं, वहाँ निश्चित ही विवादों का सृजन होता है।

अनन्त-जड़ एवं अनन्त-चेतन के समुदाय इस अनादि-अनन्त विश्व में जड़ का धर्म जड़ता एवं चेतन का धर्म चेतना (ज्ञान-दर्शन आदि) होती है। वस्तु को परमुखापेक्षिता से सुरक्षित रखने के लिए ऐसे धर्म अर्थात् शक्तियाँ प्रत्येक वस्तु में अनन्त होती हैं। एक-एक परमाणु अनन्त-शक्ति समन्वित है। ये शक्तियाँ वस्तु के शाश्वत-धर्म हैं, जिनकी अभिव्यक्ति परिणति में होती है। शक्ति शाश्वत एवं परिणति क्षणिक होती है। परिणति में दो विकल्प होते हैं। जैसी शक्ति है वैसी ही अभिव्यक्ति हो, तो उसे शक्ति की स्वाभाविक-परिणति अर्थात् धर्म कहते हैं और शक्ति के विपरीत-परिणति हो, तो उसे विभाव अर्थात् अधर्म कहते हैं। जैसे एक तोते में

कठोर-वस्तु को काट देने की शक्ति सदैव विद्यमान होने पर भी अपनी शक्ति का विस्मरण कर वह नलिनी को पकड़कर उल्टा लटक जाता है और मानता है कि नलिनी ने उसे पकड़ लिया है, जबकि नलिनी को तोड़ देने की शक्ति उसमें उससमय भी पूरी की पूरी विद्यमान है। परिणति के इस विपर्यय को विभाव अर्थात् अधर्म कहते हैं।

वस्तु-व्यवस्था के इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम आत्मा के धर्म की मीमांसा करें, तो आत्मा भी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एवं आनन्द आदि अनन्त-शक्ति-सम्पत्ति का धाम एक अनादि, अकृत्रिम, स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष चैतन्य तत्त्व है; किन्तु अपने शक्ति-सौन्दर्य के अनादि अबोध के कारण उसे अत्यन्त-भिन्न देहादि जड़- सत्ताओं में ही निजत्व की प्रतीति रही है। तब यह स्वाभाविक है कि कल्पित-निजत्व में ही निरन्तर उसका आचरण समाहित हो। फल यह होता है कि देहादि पर-सत्ताओं को वह हर मूल्य पर अपने अधिकार में रखना चाहता है; किन्तु वे अत्यन्त-स्वतन्त्र होने से उनमें इसका अधिकार साकार नहीं होता। अतः क्रोध का जन्म होता है। कभी आत्मा को पर-सत्ताओं में अपने प्रयत्नों की सफलता-सी लगती है, तो इसका मान मचलने लगता है। किन्तु उस सफलता का श्रेय आत्मा को नहीं, वरन् वस्तु की शृंखलाबद्ध स्वतन्त्र- कार्य-प्रणाली को ही जाता है। अतः मान नीच-वृत्ति है। अनधिकृत-वस्तुओं के क्रिया-कलापों को किसी भी प्रकार अपने अनुकूल बनाने के विफल एवं गर्हित-प्रयास को मायाचार एवं उनकी तीव्र लिप्सा को लोभ कहते हैं। विकार के अन्यरूप जैसे असत्य, असंयम, अतप, अत्याग, अनाकिंचन्य एवं अब्रह्म प्रकारान्तर से क्रोध, मान, माया, लोभ के ही पर्याय हैं। वास्तव में ये आत्मा के चारित्रिक-विकार के ही दशरूप हैं, जो पराचरण से निर्मित होते हैं और आत्मा के रमणीय-स्वरूप की अज्ञता में इनका जन्म होता है। जैनदर्शन इन्हें 'अधर्म' एवं 'अपराध' कहता है और वृत्तियों में आत्मा को अपने आनन्दमय-स्वरूप से च्युत होने के कारण प्रचण्ड-आकुलता का वेदन होता है। इन्हीं वृत्तियों को विकार की न्यूनता में 'पुण्य' एवं विकार की अधिकता में

'पाप' कहा जाता है। कर्मबंध का निमित्त भी अज्ञानमय ये वृत्तियाँ ही होती हैं। ऐसी लोकनीति भी है—स्वच्छ एवं स्वस्थ लोक-जीवन से ये अपेक्षाएँ की जाती हैं कि मनुष्य का आचरण अनधिकृत न हो, अन्यथा वह दण्डनीय-अपराध होता है। इसीप्रकार स्वतन्त्र-वस्तुव्यवस्था पर आधारित जैन आचार-संहिता की अपेक्षायें हैं कि पवित्र ज्ञान-मय आत्मा की वृत्तियों का विहार परद्रव्य में न हो; क्योंकि वह स्वयं ही आनन्द-निकेतन है। अत: उसका आचरण स्वसत्ता में ही हो।

'दशलक्षण' जैसे महापर्व का शुभागमन आत्मा की ऐसी ही अपराधिनी-वृत्तियों को समाप्त कर जीवन के सुखद-अध्याय का प्रारम्भ करने के लिए होता है। विकार अर्थात् अधर्म के सभी रूपों की सृष्टि अनात्मज्ञता के कारण ही बनती है और आत्मानुभूति की आनन्दमय-स्थिति में विकार की बस्ती उजड़ने लगती है।

उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य धर्म आत्मदर्शन अर्थात् आत्मानुभूति से उत्पन्न आत्म-विहार ही हैं, जो क्रमश: वर्द्धमान होकर आत्मा को पवित्रता एवं आनन्द की चरमावस्था में स्थापित कर देता है। इन सभी धर्मों का अभ्युदय आत्मा में आत्मानुभूति के क्षण में ही होता है और पूर्णता क्रमश: होती है। सचमुच तो क्रोधादि दशप्रकार के विकारों की ओर से धर्म की ये दशसज्ञायें हैं; किन्तु वास्तव में धर्म के दश प्रकार नहीं होते। आत्म-स्वरूप में लीनता ही धर्म की एकमात्र पर्याय है, जिसमें ये सभी धर्म अंतर्भूत हो जाते हैं। विकार में अनेक का अवलंबन होता है अत: उसके अनेकरूप होते हैं। रोग तो अनेकप्रकार के होते हैं, किन्तु आरोग्य अनेकप्रकार का नहीं होता। अनेकप्रकार के रोगों के अभाव में सभी को आरोग्य एक ही प्रकार का उपलब्ध होता है। ऐसे ही आत्मा की स्वस्थ-दशा अर्थात् स्वरूप-लीनता ही एकमात्र धर्म है, जिसे क्रोध के अभाव में क्षमा, मान के अभाव में मार्दव, माया के अभाव में आर्जव, एवं लोभ के अभाव में शौच आदि दस संज्ञाओं से कहा जाता है।

धर्म के क्षमादि-दशलक्षण मात्र किसी जैन-परिवार की अपेक्षायें नहीं, वरन् जीवन तत्त्व होने से वे प्राणीमात्र की आवश्यकतायें हैं। क्रोध एवं मान आदि दुर्वृत्तियों से मात्र कोई जैन ही व्याकुल नहीं होता, सभी प्राणी सर्वत्र एवं सदैव ही परेशान होते हैं। अत: इनका निर्वासन सभी के लिए महासुखद होता है। जीवन के व्यवहार में भी कोई व्यक्ति क्रोध सदा नहीं कर सकता। यदि वह व्यक्ति का धर्म हो और सुखद हो, तो उसके सदैव बने रहने की व्यवस्था होना चाहिए। किन्तु विश्व में ऐसी एक भी घटना उपलब्ध नहीं होती।

एकबार उत्पन्न हुआ क्रोध निश्चित ही नष्ट होता ही होता है, फिर भले ही वह पुन: उत्पन्न हो सकता है और स्वरूपलीनता में तो उसका सर्वनाश ही हो जाता है और वह पुन: उत्पन्न ही नहीं होता। अत: परावलम्बी-क्रोध के क्रमिक-अभाव में आत्मा की वृत्ति जिस ओर गमन करती है और अन्त में जहाँ जाकर विश्राम लेती है, उसे ही स्वभाव कहते है। अत: यह त्रिकालाबाधित सत्य है कि प्रत्येक वस्तु विभाव के अभाव में स्वभाव का ही स्पर्श करती है, जैसे अग्नि से अलग कर देने पर पानी अपने शीतल स्वभाव की ओर स्वयं ही गतिमान होता है।

सचमुच तो आत्मा सदा स्वयं ही अनन्त शक्ति अर्थात् अनन्त धर्ममय अक्षय सत्ता है। किन्तु जगत के अन्य पदार्थों से उसे अपनी अक्षय सत्ता की हानि का भ्रम हो जाता है और यही भ्रम अर्थात् अज्ञान सर्व विकारों की जन्मस्थली है। अत: विकार अर्थात् अनन्त कष्टों से मुक्ति होने के लिए अपनी निरापद शुद्ध चैतन्य सत्ता का चिंतन एवं अनुभूति ही एक मात्र पथ है।

दशलक्षण महापर्व उसी रमणीय चैतन्य के अनुभव की पुनीत प्रेरणायें लेकर आता है। सचमुच ये धर्म के दस दिन नहीं, वरन् अब तक यदि धर्म नहीं सीखा गया हो, तो धर्म सीखने के दश दिन हैं और यदि धर्म सीख लिया गया हो, तो उसे आत्मसात् करने के लिए अनमोल क्षण हैं। दश दिन की उपलब्धि से हमारे जीवन का हर भावी क्षण दशलक्षण पर्व बन सके

तो ही इनकी सार्थकता है। निश्चित ही अपने शुद्ध चेतन तत्त्व की उपासना के रूप में वह पर्व प्रतिफल ही अभिनन्दनीय है और चिर शांति के लिए जगत के सभी प्राणियों की एकमात्र आवश्यकता के रूप में इस पर्व की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता निर्विवाद है।

दशलाक्षिणी पर्व जयवंत वर्ते। दिगंबर शासन जयवंत वर्ते।

भाद्रपद शुक्ल पंचमी सं. 2077 **आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन**
दिनांक - 10 सितम्बर 2021 **कोटा**